RUSSIA WORKSHOP – JULY 2019
Kabir session 1: yogic language
ṬĪKĀS

We provide ṭīkās for each poem where available (2 or 1 or none) from these 2 sources:

1. जयदेव सिंह, वासुदेव सिंह, कबीर वाङ्मय: खण्ड २, सबद : भावार्थबोधिनी व्याख्या सहित । विश्वविद्यालय प्रकाशन, वारानसी १९८१
2. माताप्रसाद गुप्त (संपादक), कबीर-ग्रंथावली । प्रामाणिक प्रकाशन, आगरा १९६९.

Note: Often there are variations (usually but not always minor) between the texts these authors use and those in our ms. And we don't always agree with their interpretations. But overall their ṭīkās are very helpful to us.

J12 – S12#16

जयदेव सिंह, पृ० ३७

शब्दार्थ — गगन मंडल = सहस्रार । बंक नालि = वक्र नाल, सहस्रार के नीचे कपाल-कुहर से लेकर तालु तक विसतृत टेढ़ी नली जिसके द्वारा सोमरस का क्षरण होता है । मूल = मूलाधार चक्र । सर = चोटी । गगन = ब्रह्मरन्ध्र । जोगनी = (प्र० अ०) कुण्डलिनी । पलीता (फा० फतीलः) = रेशों को बटकर बनाई गई बत्ती जिससे बंदूक या तोप के भीतर आग लगाई जाती है । दरीचै (फा०) = झरोखा । बागा = बोला, गूँजा ।
संदर्भ — प्रस्तुत पद में बताया गया है कि योगी का वास्तविक आश्रम गगन-मंडल या सहस्रार में है ।
व्याख्या — कबीर कहते हैं कि हे अवधूत ! ब्रह्मरन्ध्र में अवस्थित हो जाओ । वही वास्तविक घर है । कपाल-कुहर से लेकर तालु तक विस्तृत बंक नालि से सोमरस टपकता रहता है, उसी का आस्वादन करो । शरीर में कुण्डलिनी सुषुम्ना नाड़ी के द्वारा मूलाधार से ऊपर की ओर चलकर ब्रह्मरन्ध्र में जाकर समा जाती है । काम और क्रोध को भस्म कर देने पर ही कुण्डलिनी जागृत होती है । कुण्डलिनी के जागरण पर सहस्रार के झरोखे में जीवात्मा और परमात्मा का मिलन होता है । कबीर कहते हैं कि उस दशा में अनाहत शब्द गूँज उठता है । इस विषय में किसी के मन में संशय का अवकाश नहीं हो सकता है ।

माताप्रसाद गुप्त, पृ० १८६

अर्थ — ऐ अवधूत, गगन मंडल (ब्रह्मरंध्र) में घर कीजिए, [जहां पर] अमृत झड़ता है, सदैव सुख उत्पन्न होता है और बंकनाल का रस पिया जाता है । मूल (मूलाधार चक्र) को बांध कर (बंद कर) [पवन या प्राणों का] शर गगन (शून्य – ब्रह्मरंध्र) में समा गया और सुषुम्णा उसके पोतन (प्रोतन = गुम्फन) में लग गई – उसके साथ गुम्फित हो गई; काम और क्रोध – दोनों में पलीता हुआ (आग लगा दी गई) और वहां (उस अवस्था में) योगिनी जाग उठी । मन जाकर दरीबे (मदिरा की सट्टी ?) में बैठ गया, और रस [पीने] में लग कर (संलग्न होकर) से वह उसमें मग्न हो गया । कबीर कहता है कि जी में संशय नहीं रह गया, क्योंकि अनाहत शब्द (वाद्य) बज उठा है।

J6 – S6#7

जयदेव सिंह, पृ० १९८–१९९

शब्दार्थ — नरहरि = नृसिंह, प्रभु । सहजैं = (१) स्वयं सिद्ध (२) स्वभावतः । [१९९] तरु = वृक्ष (प्र० अ०) माया । बीज = (प्र० अ०) अविद्या । अंकुर = (प्र० अ०) वासना । पल्लव = (प्र० अ०) मोह अदि । फल फूल = (प्र० अ०) विषय भोग । तन = उसके । गुरगमि = गुरु के मार्ग से या गुरु के प्रभाव से । परजारी = प्रज्वलित । ससि = चंद्र (प्र० अ०) इड़ा । सूर = सूर्य (प्र० अ०) पिंगला । हर (फा०) = प्रत्येक । जुग = दोनों । तारी = समाधि । पवन = उदान वायु । चक्र षट = छः चक्र (मूलाधार,

स्वाधिष्ठान, मणिपूर, अनाहत, विशुद्ध, अज्ञा) । मेरडंड = मेरुदंड, सुषुम्ना । सर पूरा = स्वर से पूर्ण हो गया । सुंनि = शून्य चक्र, सहस्रार । तूरा = तुरही । अनहद = अनाहत ध्वनि । सुमति = सुबुद्धि ।

संदर्भ — सहजभाव से प्रभु की प्राप्ति होने पर कुंडलिनी का जागरण हो जाता है, तब अनाहत नाद की अनुभूति होती है और जीव आनंद-पद को प्राप्त कर लेता है ।

व्याख्या — कबीर कहते हैं कि जिन्होंने सहजभाव से भगवान् की अनुभूति कर ली है, वही उस अनुभूति के मर्म को समझते हैं, उस अनुभूति के अनन्तर उस साधक के माया-वृक्ष के विषय-भोग रूपी फल फूल, मोह रूपी पल्लव, वासना रूपी अंकुर और अविद्या रूपी बीज नष्ट हो जाते हैं । गुरु के द्वारा बताए गए मार्ग पर चलने से ज्ञान रूपी प्रकाश प्रकट हो जाता है, ब्रह्म-ज्ञानाग्नि प्रज्वलित हो जाती है ।

इडा और पिंगला, जो एक दूसरे से दूर हैं — एक बायीं ओर है, दूसरी दयीं ओर, उनमें प्रवाहित प्राण और अपान वायु का योग या मिलन हो जाता है तथा समाधि लग जाती है । तब उदान वायु नीचे से ऊपर की ओर चलता है और उसी के साथ सुप्त कुण्दलिनी का जागरण होता है, जो मूलाधार, मणिपूर, स्वाधिष्ठान, अनाहत, विशुद्ध, आज्ञा आदि षट्चक्रों का वेधन करती हुई, ऊपर सहस्रार तक चली जाती है और सुषुम्ना (मेरुदण्ड) अनाहत नाद से पूरित हो उठती है । परिवेष्टित आकाश में नाद ध्वनित होता है और चित्त शून्यचक्र (सहस्रार) में समा जाता है । अनाहत नाद की आनन्दमयी तुरही बजने लगती है । कबीर विचारकर कहते हैं कि इस प्रकार सारा शरीर सुबुद्धि से व्याप्त हो गया और आज्ञाचक्र (त्रिकुटी) में जीव का प्रभु से साक्षात् मिलन हो गया । उसे आनन्द पद की प्राप्ति हुई । वह जन्म-मरण रूपी काल के पाश से मुक्त हो गया । चित्त की एकतानता (सुरति) उस आनन्द में समा गई

माताप्रसाद गुप्त, पृ० १४६–१४७

अर्थ — जिन्होंने सहज के द्वारा नरहरि को जान लिया, उनका [जागतिक अस्तित्व-] तरु अपने फल, फूल, पल्लव, अंकुर तथा बीज के साथ (गत) नष्ट हो गया । उन्हें गुरु की सहायता से ज्ञान का प्रकट प्रकाश प्राप्त हुआ, और [उस प्रकाश में] उन्होंने ब्रह्म की अग्नि प्रज्वलित की । शशधर (चंद्र नाड़ी) और सूर्य (सूर्य नाड़ी), जो एक-दूसरे से दूर और दूरंतर थे, योग में दोनों की तालियां (त्राटिकाएं) लग गईं—समाधि की स्थिति प्राप्त हो गई । जब पवन (प्राणों) ने उलट कर (ऊर्ध्वमुख होकर) षट्-चक्रों का भेदन किया, और मेरुदण्ड में स्वर पूरा (भरा), आकाश (शून्य) की गर्जना (अनाहत नाद) से मन शून्य में समा गया, और अनाहत का तूर्य बजने लगा । त्रिकुटी (दोनों भौंहों और नासिका के सन्धि-स्थान—त्रिवेणी) के संगम स्थान पर का स्वामी होकर कबीर ने सुमति-शरीर का विचार किया । [१४७] आनंद पद में स्थित होकर वह काल से छुटकारा पा गया, और उस सुख में उसकी सुरति (स्मृति) समा गई ।

J8 – S8#10

जयदेव सिंह, पृ० ३८

शब्दार्थ — अवधू = गोरखपंथी योगी, अवधूत (जिसने अपने कल्मष को झकझोर कर फेंक दिया है)। धुनि = ध्वनि, नाद । माँडी = मची हुई । अतीत = कालातीत । राता = अनुरक्त । षाँडी = खंडित, नष्ट । ससै = शशक, खरगोश, (प्र० अ०) मन । समंद = समुद्र, (प्र० अ०) ब्रह्मनाडी । मंछा = मछली, (प्र० अ०) मन । पहाड़ी = (प्र० अ०) शून्य शिखर । गाड़ी = गड्ढा । सुइ = वही । बाम्हन = ब्रह्म का ज्ञाता । बाड़ी = खेत । थान = कपड़ा । कोली = जुलाहा, कोरी । अनवाँसी = नया अप्रयुक्त बर्तन । नाँकै = छिद्र से । हस्ती = हाथी, (प्र० अ०) जीव ।

संदर्भ — इस पद में कबीर ने ब्रह्म-साक्षात्कार की सूक्ष्म अवस्था का वर्णन किया है ।

व्याख्या — कबीर कहते हैं कि हे अवधूत ! ज्ञान की लहर में ध्वनि मची हुई है अर्थात् साक्षात्कार की अवस्था में एक विचित्र नाद का अनुभव होता है । वह ध्वनि कालातीत है और उस अनाहत नाद में चित्त अनुरक्त हो जाता है । इस प्रकार तृष्णा नष्ट हो जाती है । शरीर (वन) के भीतर रहने वाला चंचल मन (शशक) ब्रह्म नाड़ी (समुद्र) में स्थिर हो गया है । उसका निवास ब्रह्म नाड़ी में हो गया । मछली पहाड़ी पर बसने लगी अर्थात् चंचल मन नीचे से उठकर शून्यशिखर पर चला गया । ब्रह्म का ज्ञाता साधक सहस्रार

से स्रवित होने वाले उस रस को पीकर छक गया । बिना खेती-बारी किए परमतत्व-रूपी फल प्राप्त हो गया । अहं (जीव) ही जुलाहा है, वही खूँटी है और वही गड्ढा है, जो ध्यान रूपी थान (कपड़ा) बुन रहा है अर्थात् सारी प्रक्रिया जीव द्वारा हो रही है । अभी तक ध्यान रूपी ताने-बाने अप्रयुक्त थे अर्थात् पूर्ण रूप से ध्यान नहीं लगा था । वही ध्यान का सूत सघन होने की प्रेरणा देता है । वह कहता है कि खूब गाढ़ा बुनो अर्थात् ध्यान सघन हो जाय । कबीर कहते हैं कि हे संतो ! सुनो । इस प्रकार उस साक्षात्कार के पद में मैं स्थित हो गया, जो साधारण जन के लिए अगम्य है । वह परम सूक्ष्म पद है, किन्तु गुरु के अनुग्रह से सुई के छेद से हाथी आ-जा सकता है अर्थात् मैं वहाँ पहुँच गया ।

माताप्रसाद गुप्त, पृ० १४८–१४९

अर्थ — अवधूत ने ज्ञान-लहरी [आयोजित] कर मांड रक्खी है, [इंद्रियों से] अतीत अनाहत शब्द में वह रक्त (अनुरक्त) हुआ है, और इस प्रकार उसने तृष्णा को खंडित कर डाला है । वन के शशक (खरहे) ने समुद्र में घर किया है, मत्स्य पहाड़ी पर जा बसा है; मदिरा-पान शूद्र करता है, मत्त [उससे] ब्राह्मण होता है, और फल बिना वाटिका के लगा (लगता) है । [खाड़ (खात) [१४९] – वह गढ़ा जिसमें कोली बैठता और राछों की रस्सी लटका कर पैरों से उन्हें यथावश्यक बदलने की प्रक्रिया करता है – में बैठ कर कोली के बुनाई करने के स्थान पर] खाड़ ही कोली में बैठ कर बुनाई का कार्य करती है, [खूंटी भूमि में गाड़ी जाती है, किन्तु यहाँ उसके स्थान पर] भूमि ही खूंटी में गड़ी हुई है, [अनंवासी में ताना-बाना पड़ने के स्थान पर] ताने-बाने में अनंवासी पड़ रही है, [बिनाई के कष्ट से मुक्त होने की प्रार्थना करने के स्थान पर] सूत कहता है, "मुझे गाढ़ा बुनो" । कबीर कहता है, ऐ संतो, सुनो; इस पद में अगम्य ज्ञान है, किन्तु गुरु की कृपा से सुई की नाक में से भी हाथी आते-जाते हैं ।
ऐसे पदों को लोक-भाषा में उलटवासी : उल्लट्ट+वाशिअ : उल्लुण्ठ+ वाशित="उलटा कहा हुआ" कहा जाता है । कबीर ने इन्हें "उलटा वेद" कहा है : "उलटि बेद बूझै" (राज०, ८.१)। विभिन्न कार्यों का जो स्वाभाविक क्रम होता है, विरोधाभास की सहायता से ऐसे पदों में ठीक उसका उलटा होता हुआ कहा जाता है ।
"वन" शरीर है, "ससा" मन है, "समंद" (समुद्र) स्थिर और अनंत आत्मा है, "मछ" (मत्स्य) प्राण (पवन) है, "पहाड़" सहस्रार है, "मद" सहस्रार में मिलने वाला अमृत है, "शूद्र" जीव है, "ब्राह्मण" ब्रह्मज्ञ आत्मा है, तथा बिना वाटिका का फल मुक्ति-पद है । शेष पद में कौलिक (कोरी) के व्यवसाय की जो विभिन्न प्रक्रियाएं उलटी होती कही गई हैं, उसमें इतनी ही व्यंजना प्रतीत होती है कि साधना-जगत् में व्यवहार-जगत् की तुलना में सारी बातें उलटी होती दिखलाई पड़ती हैं । सुई के नाके में से हस्ती का आना-जाना सूक्ष्म में स्थूल का समाना है ।

J13 – S13#17

जयदेव सिंह, पृ० ४५-४६

शब्दार्थ — मुद्रा = (१) योग में शरीर के अंगों का विशेष न्यास (२) गोरखपंथी साधुओं का कर्णाभूषण । सुरति = प्रेममय अवधान । निरति = सुरति की चरम अवस्था । सींगी = हिरन के सींग की बनी तुरही जिसे नाथ योगी बजाते हैं । गगन = सहस्रार । दुनीं = संसार । कंथा = चिथड़ा, फटा वस्त्र । जोवै = देखता है । सहँस = स+हंस = हंस के सहित अर्थात् हंसः का श्वास-प्रश्वास के द्वारा अजपाजप । पोवै = पिरोता है । त्रिकुटी संगम = आज्ञाचक्र, जहाँ इड़ा-पिंगला-सुषुम्ना तीनों नाड़ियाँ मिलती हैं । माँहै = भीतर ।

संदर्भ — प्रस्तुत पद में कबीर ने यह बताया है कि बाह्य उपकरणों से कोई सच्चा योगी नहीं होता है । आन्तरिक स्थिति से ही सच्चे योगी को पहचाना जा सकता है ।

व्याख्या — कबीर कहते हैं कि हे अवधूत ! बाह्य उपकरणों से कोई सच्चा योगी नहीं बनता है । सच्चा योगी सभी सांसारिक जनों से न्यारा होता है । उसकी पहचान बाह्य वेश-भूषा और उपकरणों से नहीं की जा सकती । उसकी वास्तविक मुद्रा निरति होती है, न कि कर्णाभूषण; उसकी वास्तविक सींगी सुरति है, न कि हिरन के सींग की बनी तुरही, जिसे नाथ योगी बजाते हैं । वह अनाहत नाद की अखण्ड धारा का अनुभव करता रहता है । उसका चित्त सहस्रार में लीन रहता है और वह सांसारिक विषयों से विरत रहता है ।

वह चैतन्य-स्वरूप में सदा स्थित रहता है । सच्चा योगी अपनी उच्च स्थिति से कभी च्युत नहीं होता और प्रभु-प्रेम का मधुर-रस निरन्तर पान करता रहता है । उसका बाह्य रूप फटे वस्त्र से आवृत रहता है, किन्तु भीतर से वह प्रभु में युक्त रहता है और अपने हृदय-दर्पण में प्रिय का दर्शन करता रहता है । वह अपनी नाक के प्रवेश-द्वार में "हं सः" के साथ श्वास-प्रश्वास की प्रक्रिया के द्वारा २१६०० धागे पिरोता रहता है अर्थात् उसकी नाक के भीतर दिन भर में श्वास-प्रश्वास के द्वारा २१६०० बार "हं सः" का अजपाजप चलता रहता है । वह काठ की धूनी के सामने अपनी काया को नहीं तपाता है, प्रत्युत ब्रह्माग्नि में, ज्ञानाग्नि में अपने को शुद्ध करता रहता है । वह प्रयाग में गंगा-यमुना- सरस्वती के संगम पर नहीं जगता है, प्रत्युत आन्तरिक इड़ा-फिंगला-सुषुम्ना के संगम अर्थात् आज्ञाचक्र के चैतन्य प्रकाश में निरन्तर सजग रहता है । कबीर कहते हैं कि जिसका ध्यान सहज शून्य (परम तत्व) में लगा रहता है, वही परम योगी है ।

टिप्पणी — प्रत्येक व्यक्ति में एक मिनट में १५ बार श्वास-प्रश्वास की किया होती है । इस प्रकार एक दिन में १५ × ६० × २४ = २१६०० श्वास-प्रश्वास की प्रक्रिया होती है और प्रत्येक श्वास-प्रश्वास में "हं सः" की ध्वनि होती है । इस प्रकार जीव बिना किसी कृत्रिम जप के, आप से आप "हं सः" का दिन भर में २१६०० जप करता रहता है । इसे "अजपा जप" कहते हैं ।

माताप्रसाद गुप्त, पृ० १८५-१८६।

अर्थ – ऐ अवधूत, योगी जगत् से न्यारा [होता] है । वह निरति (ईश्वर की सहज स्मृति) की मुद्रा और सुरति (ईश्वर के ध्यान) की सिंगी लेकर [अनाहत] नाद की धारा को अखंडित रखता है । वह गगन (शून्य–ब्रह्मरंध्र) [१८६] में निवास करता है, दुनिया (जगत्) को नहीं देखता है और चैतन्य की चौकी पर बैठता है । आकाश (शून्य–ब्रह्मरंध्र) में चढ़ कर वह आसन नहीं छोड़ता है और वहाँ पर मधुर महारस का पान करता है । यह योगी प्रकट रूप से कंथे (गुदड़े, चीथडे) में रहता है, और हृदय के दर्पण में [आत्म-स्वरूप को] देखता रहता है । इक्कीस सहस्र छः सै धागों को यह निश्चल [की सुई] के नाके में पिरोता है । यह ब्रह्माग्नि में काया को जलाता है और त्रिकुटी के संगम पर जागता रहता है । कबीर कहता है, वही योगेश्वर है जो सहज भाव से शून्य (ब्रह्मरंध्र) में [आत्माराम से] लय लगाता है ।

२१,६०० धागे रात-दिन में आने-जाने वाली श्वासें हैं – यथा:

तीन सै साठि थेगली कंथी इकवीस सहंस छ सै धागं । (गोरख-बानी पद, १९)

इकवीसि सहस षटसां आदू पवन पुरिष जपमाली । (वही, पद १०)

J28 – S28#34

जयदेव सिंह, पृ० ३७४–३७५

शब्दार्थ — धागा = सूत्र (प्र० अ०) ध्यान का सूत्र । गगन = आकाश, गगन-मण्डल । रचनहार = कर्ता, अहंकारी जीव । सबद = अनाहत शब्द । जोवनहार = साक्षिचैतन्य । उनमांनां = उन्मनी अवस्था में । समांनां = लीन हो गया ।

संदर्भ — इस पद में बताया गया है कि संसार में अनाहत शब्द से लेकर पंच तत्व तक सभी कुछ नश्वर है । केवल सारशब्द जो कि परम तत्व है और जिसे शब्द ब्रह्म भी कहते हैं, वही अविनाशी है । उसका अनुभव उन्मनी अवस्था में पहुँचने पर ही हो सकता है ।

व्याख्या — कबीर कहते हैं कि हे संतो ! जब ध्यान का सूत्र टूट जाता है, तब साधक का सम्बंध उस गगन मण्डल से खण्डित हो जाता है जिससे वह अनाहत शब्द सुनता है । मुझे यह शंका निरन्तर बनी रहती है कि फिर वह शब्द कहाँ चला जाता है ? मुझे इसका समाधान किसी से नहीं मिलता ।

इसी प्रश्न के संदर्भ में वह सभी पदार्थों की नश्वरता दिखलाते हुए कहते हैं कि केवल सारशब्द ही परमतत्व है और वह शाश्वत है । परमार्थ में न ब्रह्माण्ड है, न पिंड और न पंचतत्व । उसमें इडा-पिंगला-सुषुम्ना आदि भी नही हैं । ये पदार्थ कहाँ समाविष्ट हो जाते हैं ? परमार्थ में न गृह-द्वार है और न वहाँ उसके रचयिता जीव का ही कोई अस्तित्व है ? ये सारे पदार्थ उस साक्षि-चैतन्य में लीन हो जाते हैं जो इन सबसे अतीत है और शाश्वत है । वही परमतत्व इनका आदि भी है और अवसान भी है । सांसारिक पदार्थ नश्वर

हैं । ये टूटते और बँधते हैं और बँधकर फिर टूटते हैं । एक जन्म में जो स्वामी था, दूसरे में वही सेवक बन जाता है । अतः सम्बंधों के स्थायित्व पर कैसे विश्वास किया जा सकता है ?

पद के प्रारम्भ में उठाई गई शंका का समाधान करते हुए कबीर कहते हैं कि यदि ध्यान-सूत्र उन्मनी में स्थिर हो जाय तो चित्त का सम्बंध सारशब्द से हो जाएगा और तब पता चलेगा कि एक ऐसी अवस्था है, जहाँ शब्द शाश्वत है । जो इस परमतत्व में (जो कि ब्रह्मपद है) लीन [नहीं] हो जाता है, वह सार शब्द का अनुभव ग्रंथों के अध्ययन और श्रवण से कभी प्राप्त नहीं हो सकता ।

टिप्पणी — (१) इस पद की पहली पंक्ति में यह शंका उठाई गई है कि अनाहत शब्द, जिसे साधक परम श्रेय समझता है, गगन-मण्डल से सम्पर्क छूटने पर कहाँ चला जाता है ? इसका समाधान वह उपान्त्य पद में देते हुए बताते हैं कि सार शब्द में सब कुछ समा जाता है । वही सबका आदि और अंत है । सारशब्द ही साधक का परम पद है और उस पद का साक्षात्कार चित्त के उन्मनी अवस्था में पहुंचने पर हो सकता है । कबीर ने अन्यत्र भी कहा है —

जाप मरै अजपा मरै, अनहद हू मरि जाइ ।
सुरति समानी शब्द में, ताहि काल नहिं खाइ ॥

यहाँ “शब्द“ का तात्पर्य है – सारशब्द, जिसका संकेत कबीर ने प्रस्तुत पद में किया है ।

(२) जब कुण्डलिनी जाग्रत होकर सुषुम्ना मार्ग से चक्रों का भेदन करती हुई शून्य चक्र (गगन मण्डल या ब्रह्मरन्ध्र) में जा मिलती है, तब साधक को अनाहत शब्द सुनाई देता है । पर शब्द भी शाश्वत नहीं है । केवल परम सारशब्द ही शाश्वत है । वही परम तत्व है । अन्य पदार्थों के समान अनाहत शब्द का भी उसी में अवसान होता है ।

माताप्रसाद गुप्त, पृ० १६४–१६५

अर्थ — हे संतो, जब [सृष्टि का] सूत्र टूट गया (जाएगा) और आकाश भी विनष्ट हो गया (जाएगा), तब शब्द कहाँ समाएगा? वह संशय मुझे रात-दिन व्यापता रहता है, किन्तु कोई भी इसे समझा कर नहीं कहता है । जब ब्रह्मांड न होगा, पिंड न होगा और पंच तत्व भी न होंगे और इड़ा, पिंगला, सुषुम्णा न होंगी, ये त्रिगुण (सत, रज, तम) कहां समाएंगे ? जब गृह, द्वार आदि कुछ न होंगे और उनका निर्माता भी न होगा, केवल संसार से अतीत (निर्लिप्त) जोवनहार (संयोजन करने वाला) निरन्तर संग होगा, तब ये गुण वहां (उसी में) समाएँगे । जो टूटता (क्षीण होता) है वह बढ़ता है, और जो बढ़ता है वह टूटता भी (क्षीण भी होता) है, जब-तब (कभी न कभी) उसका विनाश भी होता है । तब कौन ठाकुर (स्वामी) था और अब कौन सेवक है, इसका कोई क्या विश्वास करे ? कबीर कहता है, यह आकाश नहीं विनष्ट होता है, यदि उन्मन (मन को इंद्रियों से हटा कर उसे उत्थित करने की प्रक्रिया) का धागा (सूत्र) [लगा हुआ] हो । सीखने, सुनने और पढ़ने से क्या होता है, यदि कोई [आत्म] पद में नहीं समाता है ?

J7 – S7#8

जयदेव सिंह, पृ० २७७

शब्दार्थ – बेगांनां = पराया । ओलौती = ओलती । बरेंडे = बेड़ा, बल्ली । सुरति = चेतना । पलीता = वह बत्ती जिससे आग लगाई जाती है । झल = आग, ज्वाला ।

संदर्भ – प्रस्तुत पद में बताया गया है कि जब मन प्रत्यङ्मुखी होता है, तभी परमतत्व का ज्ञान होता है ।

व्याख्या – कबीर कहते हैं कि मन उलटकर मन में ही समा गया अर्थात् मन प्रत्यङ्मुखी हो गया । गुरु के अनुग्रह से बुद्धि शुद्ध हो गई, अन्यथा मैं परमात्मा से अपरिचित था, वियुक्त था ।

उदान वायु के द्वारा कुण्डलिनी के जागरण पर षट् चक्रों का भेदन करते हुए चेतना शून्य में मिल गई । हे साधको ! उस परम तत्व को खोजो, जिसका आवागमन नहीं है, जन्म-मरण नहीं है अर्थात् जो अमर तत्व है । लोग अपनी बुद्धि के अनुसार उस तत्व के सम्बन्ध में विचार करते हैं । जो स्थूल द्वैत-बुद्धि के हैं, उनके लिए आत्मतत्व भीतर होते हुए भी बहुत दूर है, किन्तु जो सूक्ष्म विचार वाले हैं, उनके लिए साधारणतया दूर माना जाने वाला तत्व निकट ही है ।

जिस प्रकार ओलती का पानी जब बल्ली द्वारा ऊपर चढ़ता है तो वह बल्ली ही उस जल का अनुभव कर पाती है, उसी प्रकार जब मन प्रत्यङ्मुखी होकर आत्मा की ओर अधिरोहण करता है, तब वही मन परम-तत्व के रस को जान पाता है । कबीर कहते हैं कि उस परम तत्व का वर्णन मैं किससे करूँ ? कोई बिरला विवेकी ही उसे समझ सकता है । गुरु जो ज्ञान का पलीता शिष्य को लगाता है अर्थात् जो दीक्षा देता है, उसकी ज्योति का अनुभव बिरले लोगों को ही होता है ।

माताप्रसाद गुप्त, पृ० १४७

अर्थ – मन उलट कर मन ही में समा गया; गुरु की कृपा से तुझे, ऐ कबीर, अक्ल (बुद्धि) हो गई, नहीं तो तू [इस अध्यात्म देश में] बेगाना (परदेसी) था । [विपरीत-करणी मुद्रा द्वारा] औलौती (छाजन का वह छोर जहां से उसका पानी गिरता है) का [जल] बड़ेरे (वह बल्ली जिस पर से छाजन नीचे की ओर डाली जाती है) पर चढ़ गया; तब उस दिव्य जल को जिसने पिया, वही उसको मान गया । [उसी मुद्रा के द्वारा] पवन (प्राणों) ने उलट कर षट-चक्र का भेदन किया, शून्य में सुरति (स्मृति) की लय लग गई, और तदनंतर जो अमर है, मरता नहीं है और न जीता है उस [आत्मतत्व तथा परमतत्व] को विरक्त खोजने लगा । यह अनुभव की कथा किससे कही जाए, क्या कोई ऐसा चतुर और विवेकी है ? कबीर कहता है कि गुरु ने तो [सभी में] पलीता (वह अग्नि जो बारूद में लगाई जाती है) दिया है, किन्तु बिरलों ने ही [ज्ञान की] वह ज्वाला देखी है ।

ओलौती के जल का बड़ेरे को जाना प्राणों का मूलाधार से उत्थित होकर सहस्रार को जाना है ।

*   *   *   *   *

J49 – S50#63

जयदेव सिंह, पृ० ४३२–४३४

शब्दार्थ — हिंडोलना = झूला । आतम राम = शुद्ध चैतन्य । चंद = (प्र० अ०) इडा । सूर = सूर्य (प्र० अ०) पिंगला । ग्रास = आहार । बंक नालि = सहस्रार के नीचे कपाल-कुहर से होकर तालु तक एक विस्तृत वक्रनालि है, जिसके द्वारा सोमरस टपकता है । पंच पियारियाँ = पंच प्राण (प्राण, अपान, उदान, समान, व्यान) । द्वादस गम को अंतरा = हृदय से बारह अंगुल की पहुँच पर अर्थात् सहस्रार । तंत्रों के अनुसार हृदय से बारह अंगुल के अंतर पर सहस्रार में चित्त की स्थिति होती है । तंत्रों में इसे "शिव द्वादशान्त" कहते हैं । सहज सुंनि = वह सहजावस्था जो सभी दृश्य पदार्थों से रहित है, सब ज्ञेय से परे है । नैहरौ = नैहर, पितृगृह । गगन मंडल = सहस्रार । आगरी = श्रेष्ठ । दोऊ कुल = पितृकुल व श्वशुरकुल, (प्र० अ०) इहलोक व परलोक । अरध = अधर, नीचे । उरध = ऊर्ध्व, ऊपर । मूल कवँल = मूलाधार चक्र । त्रिवेणी = आज्ञा चक्र [४३३] (इडा-पिंगला-सुषुम्ना का संगमस्थल)। नाव = नौका । कनिहार = कर्णधार । गुरगमि = गुरु के रहस्य-ज्ञान से ।

संदर्भ — प्रस्तुत पद में हिंडोलना के रूपक द्वारा कबीर यह बतलाते हैं कि शरीर के भीतर प्रेम-भक्ति के झूले में आत्मा रूपी राम पंच प्राण के साथ आनन्द मना रहे हैं । इसी के दूसरे अंश में यह बताया गया है कि जीवात्मा मूलाधार से यात्रा करता हुआ आज्ञाचक्र के संगम को पार करके ब्रह्मरन्ध्र तक पहुँचता है, तब अमृत का पान करता है ।

व्याख्या — कबीर कहते हैं कि प्रेमाभक्ति रूपी एक झूला है जिसमें आत्मा रूपी राम अर्थात् शुद्ध चैतन्य झूल रहे हैं । वही प्रेमाभक्ति सभी संतों के लिए विश्राम-दायिनी है । झूले का विवरण देते हुए वह कहते हैं कि उसमें इडा-पिंगला के दो खंभे लगे हैं और वक्रनालि की डोरी है । इस झूले में पंचप्राण के साथ जीवात्मा आनंद ले रहा है । हृदय से ऊपर बारह अंगुल के अंतर पर (जिसे द्वादशान्त कहते हैं) सहस्रार है, वहीं पर अमृत का आहार उपलब्ध है । जिसने इस अमृत का रसास्वादन किया है, उसे हम सिद्ध मानते हैं । वही स्वामी है, मैं उसका दास हूं । गगन-मंडल में जो ब्रह्मरन्ध्र है, उसमें विद्यमान् सहजशून्य ही मेरा नैहर है । यदि हम इस आध्यात्मिक झूले पर झूल सकें तो हमारे दोनों कुल – पितृकुल और श्वशुरकुल अर्थात् इहलोक और परलोक श्रेष्ठ हो जाएँगे ।

इसी आध्यात्मिक स्थिति को अब नदी के रूपक द्वारा स्पष्ट करते हुए वह कहते हैं कि इड़ा-पिंगला जो एक दूसरे के ऊपर होती हुई सुषुम्ना मार्ग से जाती हैं, वही गंगा-यमुना नदियाँ हैं, मूलाधार चक्र ही घाट है, जहाँ से आध्यात्मिक यात्रा प्रारम्भ होती है । मानव शरीर में नाद-बिन्दु की प्रतीकात्मक कुण्डलिनी वह नौका है जिस पर जीवात्मा रूपी यात्रा षट्चक्रों के सारतत्व (गगरी) को ग्रहण करते हुए आज्ञाचक्र रूपी त्रिवेणी पर पहुँचता है । राम की भक्ति ही इस नौका का कर्णधार है । कबीर कहते हैं कि गुरु के रहस्य ज्ञान से राम का गुण गाते हुए भव-सागर से पार हो जाओ ।

टिप्पणी —

(१) **अरध-उरध** – इड़ा-पिंगला नाडियाँ सुषुम्ना के ऊपर एक दूसरे के ऊपर से होती हुई, आज्ञाचक्र में सुषुम्ना से मिलती हैं ।

(२) **नाद-बिंदु** – ब्रह्म की सृष्टि-उन्मुखता के उल्लास के स्पन्द को नाद कहते हैं । यह ज्योति और ध्वनि दोनों की अव्यक्त अवस्था है । इसी नाद को परावाक्, [४३४] परावाणी, कुल-कुण्डलिनी, मातृका आदि भी कहते हैं । शैवागम में इसी नाद को आत्ममाया, महामाया, योगमाया आदि भी कहा गया है । कहीं-कहीं पर इसे परासंवित और प्रतिभा भी कहा गया है । यह एक शक्ति है । जब यह घनीभूत होती है, तब बिंदु के रूप में व्यक्त होती है । इसी बिंदु में सारी सृष्टि समाविष्ट है । जैसे मनुष्य के "बिंदु" में शरीर के सभी अवयव संभाव्य रूप में निहित रहते हैं, उसी प्रकार "बिंदु" में सारी सृष्टि सम्भाव्य रूप में निहित रहती है ।

माताप्रसाद गुप्त, पृ० १५५

अर्थ — एक हिंडोला है, जिस पर आत्माराम झूलते हैं; यह प्रेम-भक्ति का हिंडोला है, जो सब संतों के लिए विश्राम है । चंद्र और सूर्य [नाड़ियां] उसके दो खंभे हैं, और उसकी डोरी बंकनाल (मेरुदणड के भीतर स्थित वक्र नाड़ी) की है । वहां पर पंच प्रियाएं (पंच प्राण – प्रान, अपान, उदान, समान तथा व्यान) और [मेरा] जीव झूलते हैं । द्वादश गम (डगों) के अन्तर पर वहां अमृत का ग्रास है – वह भोजन है जो मनुष्य को अमृतत्व प्रदान करता है । जिसने इस अमृत को चखा, वह स्वामी है और मैं उसका सेवक हूं । सहज और शून्य का ऐसा स्नेह उस गगन-मंडल (ब्रह्मरंध्र) में [होता] है, जो सिर का मुकुट है, और हम [प्रेयसियाँ] दोनों कुलों में अग्रगण्य हो जाती हैं यदि हम इस दिव्य हिंडोले पर झूलती हैं । [इस हिंडोले के] अधस् तथा ऊर्ध्व में गंगा (चंद्र नाड़ी) तथा यमुना (सूर्य नाड़ी) हैं, और मूलाधार के कमल (चक्र) का इसका घाट है, षट्-चक्रों की गागरें हैं, इस प्रकार त्रिवेणी (त्रिकुटी) का [दिव्य] संगम-मार्ग है । इस त्रिवेणी में नाद (सूक्ष्म जीव-तत्व) की नौकाएं हैं, राम-नाम जिनका कर्णधार है । कबीर कहता है, [आत्माराम के] गुण गा लोगे, तो गुरु के द्वारा गए हुए मार्ग से तुम पार उतर जाओगे ।